

‘बाध’ कविता का एक पाठ

श्रद्धांजलि
केदारनाथ सिंह

सुनील मिश्र

‘बाध’ केदारनाथ सिंह की एक लम्बी कविता-श्रृंखला है, जिसमें छोटे-बड़े इक्कीस खंड हैं। राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित ‘प्रतिनिधि कविताएँ के अन्तर्गत ‘बाध’ श्रृंखला की कविताओं एवम् ज्ञानपीठ प्रकाशन द्वारा ‘बाध’ में पर्याप्त पाठोंतर हैं। ‘प्रतिनिधि कविताएँ के अन्तर्गत बाध श्रृंखला में छोटे बड़े सोलह खंड हैं। यहाँ उसका शीर्षक है ढलती शताब्दी का पंचतन्त्र। ‘बाध’ कविता पहले-पहले ‘आलोचना’ पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 15.10.1984 को परमानंद श्रीवास्तव को एक पत्र में केदारनाथ सिंह लिखते हैं – ‘बाध’ कविता ‘आलोचना’ के इस अंक में जा रही है। कुछ अंश और जो तुम्हें नहीं सुना सका था, जोड़ दिए हैं। तुम्हारे सुनाए हुए में से एकाध अंश निकाल भी दिए हैं। अब कविता लगभग एक आवश्यक संग्रहण पा गई है। मैं तो अभी इतनी जल्दी-छपाने के ही पक्ष में नहीं था। पर तुमने उस दिन नामवर जी के सामने रहस्य खोल दिया और फिर तो वे ऐसे पीछे पड़े की देनी ही पड़ी।

‘बाध’ कविता में एकाध अंश जोड़ने का यह क्रम यही समाप्त नहीं होता। ‘प्रतिनिधि कविताएँ’, 1985 के प्रकाशन के लगभग ग्यारह वर्ष बाद जब स्वतंत्र रूप से ज्ञानपीठ से ‘बाध’ का पुस्तकाकार प्रकाशन होता है

तो उसमें कवि द्वारा ‘आमुख’ सहित पाँच खंड और जोड़ दिये गये हैं। कारण स्वयं कवि के ही शब्दों में, वस्तुतः पहले टुकड़े के लिखे जाने के बाद ही यह पहली बार लगा कि इस क्रम को और आगे बढ़ाया जा सकता है। फिर तो एक खंड के किसी आंतरिक दबाव से दूसरा खंड जैसे अपने आप बनता गया। कथात्मक ढाँचे की इस स्वतः स्फूर्त प्रजननशीलता से यह मेरा प्रथम काव्यात्मक साक्षात्कार था।

मैंने ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित ‘बाध’ कविता को ही अपने पाठ का आधार बनाया है। ‘बाध’ को लिखने की प्रेरणा कवि को हंगरी भाषा के रचनाकार यानोश पिलिंस्की की एक कविता पढ़ने के बाद मिली थी। यानोश पिलिंस्की की उस कविता में कवि को अभिव्यक्ति की एक नई संभावना दिखी थी। वह कविता ‘पशुलोक’ से संबंधित थी और ‘पशु-लोक’ से संबंधित होने के कारण ही कवि का ध्यान पंचतंत्र की ओर जाता है, क्योंकि उसमें ‘पशुलोक’ का एक बहुत पुराना और अधिक आत्मीय रूप पहले से मौजूद है। स्पष्ट है कवि का पंचतंत्र की दुनिया में प्रवेश अभिव्यक्ति के नई संभावना के तलाश के लिए ही है।

हर बड़ा कवि अपने अभिव्यक्ति को



7 जुलाई 1934 - 19 मार्च 2018

प्रभावपूर्ण बनाने के लिए नित नए-नए जतन करता है। वह कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर हो सकता है। यहाँ यह भी ध्यान देने लायक है कि कवि केदारनाथ सिंह पंचतंत्रीय ‘बाध’ का सीधे-सीधे अनुकरण नहीं करते और उनके अनुसार वह अनुकरण कर भी नहीं सकते क्योंकि पंचतंत्र का ढाँचा, अपनी आपात सरलता में अनुकरणीय है। कवि ने नई अर्थ-संभावना के लिए उस ढाँचे के कार्य कारण (श्रृंखला) को ढीला कर दिया है यानी की ‘बाध’ की निर्मित में प्रत्यक्षतः कोई तार्किक परिणति नहीं है इसीलिए पूरी कविता-श्रृंखला में बाध जहाँ कहीं भी उपस्थित होता है वहाँ वह अपने बाधपन के एक नए अनुषंग के साथ दिखता है। पूरी कविता-श्रृंखला में ‘बाध’ कवि द्वारा अपने पूर्व-रूप से निरस्त कर दिया जाता है और प्रत्येक नए खंड में वह एक नया और भिन्न बाध होता है। मसलन कविता के तेरहवें खंड में जिस बाध का वर्णन है वह –

**वह नहीं जो मुझे एक दिन मिला था
किसी कवि की कविता में
बल्कि एक जिंदा और सुच्चा बाध
वहाँ चुपचाप खड़ा था**

कवि केदारनाथ सिंह ‘बाध’ को किसी एक खास स्थान, प्रतीक या बिम्ब में स्थिरीकृत नहीं करते, वे उसे सदैव गतिशील बनाये रखते हैं और इसी कारण ‘बाध’ की अर्थ-सघनता बढ़ जाती है और वह ज्यादा गंभीर पाठ की मांग करती है। ‘बाध’ कविता सतह पर तो सरल दिखती है लेकिन इसके भीतर नये-नये अर्थ-संभावनाओं के द्वार खुलते हैं। ‘बाध’ में अर्थ की यात्रा मूर्त से अमूर्त की ओर है। इन्हीं मायनों में ‘बाध’ बहुलार्थी है।

‘बाध’ पर बातचीत के पहले हम, केदारनाथ सिंह का पशु-जगत् के साथ काव्य-बर्ताव कैसा रहा है यह देख लें। साहित्य में और आम-जीवन में भी बन्दरों की जो छवि चित्रित है वह चंचल, उछल-कूद करने वाले, दूसरे के हाथों से कुछ छीना-झपटी करने वाली छवियाँ ही चित्रित हैं लेकिन यह कवि केदारनाथ सिंह की आंखें हैं जो, सीढ़ियों पर बैठे बन्दरों की आँखों की एक अजीब-सी नमी को लक्षित कर ले जाती है। इसी तरह ‘बैल’ कविता में वह ‘बैल’ के बारे में लिखते हैं, – वह एक ऐसा जानवर है जो दिनभर / भूसे के बारे में सोचता है / रात भर / ईश्वर के बारे में ‘बाध’ कविता में भी जब बाध का सामना बुद्ध से होता है वहाँ कवि लिखता है, जहाँ एक ओर भूख ही भूख थी / दूसरी ओर करुणा ही करुणा। बाध कवि के लिए ‘भूख ही भूख’ है। कहने का आशय यह है कि पशु-जगत् के साथ केदारनाथ सिंह बड़ी कोमल एवम् कारुणिक बर्ताव करते हैं। दूसरी चीज यह कि ये सभी पशु उनकी कविता में अपनी ‘प्राकृतिक सत्ता’ नहीं खोते। वे बिम्ब, प्रतीक, मिथक बाद में हैं, उनका प्राकृतिक अस्तित्व पहले है। ‘बाध’ के बारे में केदारनाथ लिखते हैं – बाध हमारे लिए आज भी हवा-पानी की तरह एक प्राकृतिक सत्ता है, जिसके होने के साथ हमारे अपने होने का भवितव्य जुड़ा हुआ है।

‘बाध’ पढ़ते समय सबसे पहली उत्सुकता यह होती है कि ‘बाध’ है क्या? बाध की कई-एक छवियाँ इस कविता में हैं। कभी हिंसा बाध के रूप में तो कभी अपने स्वभाव के विपरीत समस्त औदार्य और करुणा से युक्त बाध, तो कभी खिलौना बाध के रूप में और कभी मनुष्य के अन्तर्लोक की कोमल वृत्ति प्रेम के ही रूप में चित्रित है। इसकी सूचना हमें इन पंक्तियों से मिलती है – **कि यह जो प्यार है**

यह जो हम करते हैं एक-दूसरे से
या फिर नहीं करते

यह भी एक बाध है

इस कविता में बाध के जितने भी चित्र हैं उनमें वह ज्यादातर अहिंसक, मानवीय जिज्ञासा और उत्सुकता से पूर्ण, सदैव प्रश्न करता हुआ और मानवीय संवेदन-युक्त ही चित्रित है। यही चीज इस कविता को और अधिक विशिष्ट बना देती है। कविता में बाध यह देखकर ‘हेरान’ हो जाता है कि धुआँ क्यों नहीं उठ रहा है क्योंकि –

**उसे पता था
कि जिधर से भी उठता है धुआँ
उधर होती है बस्ती
उधर रँभाती है गाँवें
उधर होते हैं गरम-गरम घर**

उधर से आती है आदमी के होने की गंध
और उपर्युक्त वर्णित चीजों की अनुपस्थिति की संभावना ही बाध को ‘हेरान’ पेशान कर देती है।

इसके अलावा उसे ‘आदमी लोग’ की चुप्पी पेशान करती है। वह लोमड़ी से उसका कारण जानना चाहता है – ये आदमी लोग/ इतने चुप क्यों रहते हैं आजकल?’

यह एक विडंबना ही है कि शहर और बाजार – जिसको मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए रचाया-बसाया है वह आज मनुष्य और मनुष्यता को लील लेने के स्थल में परिवर्तित होता जा रहा है। केदारनाथ सिंह अपनी कविता में निरंतर शेष होती उन चीजों को बचा लेना चाहते हैं जो शहरीकरण और बाजारीकरण की प्रक्रिया में उसके ग्रास बनते जा रहे हैं। ‘बाध’ में कवि ‘बुनते हुए हाथ’ और ‘चलते हुए पैर’ को बचा लेना चाहता है। कवि की एक अन्य कविता ‘दाने’ में ‘दाने’ कह उठते हैं –

**नहीं,
हम मंडी नहीं जायेंगे**

‘दाने’ की यह अनुगूँज ‘बाध’ में भी सुनाई पड़ती है। एक बड़ी कविता में पूर्ववर्ती कई कविताओं की अनुगूँज साफ सुनी जा सकती हैं। ‘बाध’ पढ़ते समय कवि की ही ‘दाने’ के अलावा, ‘यह पृथ्वी रहेगी’, ‘जो एक स्त्री को जानता है’, ‘टूटा हुआ ट्रक’, ‘बीमारी के बाद’, ‘महानगर में कवि’ और ‘पड़रौना उर्फ शहर बदल’ की याद ताजा हो जाती है साथ ही केदारनाथ सिंह के लगभग समवयस्क विनोद कुमार शुक्ल की कविता के बाध के तरफ भी हमारा ध्यान बरबस खींच जाता है। उस पर जिस विडंबना की बात की गई है वह इस कविता से कितना मिलता-जुलता है। एक बानगी –

**एक आदिवासी लड़की
महुवा बीनते बीनते
एक बाध देखती है
जैसे जंगल में
एक बाध दिखता है।
आदिवासी लड़की को बाध
उसी तरह देखता है**

जैसे जंगल में एक आदिवासी लड़की दिख जाती है

**जंगल के पक्षी दिख जाते हैं
तितली दिख जाती है –
और बाध पहले की तरह
सूखी पत्तियों पर
जँभाई लेकर पसर जाता है।
एक अकेली आदिवासी लड़की को
घने जंगल जाते हुए डर नहीं लगता
बाध शेर से डर नहीं लगता
पर महुआ लेकर गीदम के बाजार जाने से
डर लगता है।**

यह है सर्वग्रासी बाजार का चरित्र जो बाध, शेर से भी ज्यादा खतरनाक और निर्मम है। ‘बाध’ कविता के तेरहवें खंड में बाध बैलगाड़ियों को देखता है। बैलगाड़ियाँ हमेशा की तरह इस बार भी, बस्ती से शहर की ओर / कुछ-न-कुछ ढोती हुई / और अपने हिस्से की जमीन / लगातार-लगातार खोती हुई। चली जा रही हैं। ‘बाध’ कविता में ‘बस्ती’ से ‘शहर’ की यात्रा सदैव कुछ गँवावे और लुटाने की यात्रा लगती है।

इसलिए इस कविता में शहर के बारे में बाध के विचार अच्छे नहीं हैं। वह पहली बार जब ‘शहर’ आता है तो ‘शहर’ को ‘गहर तिरस्कार’ और ‘घृणा’ से देखकर उससे बाहर चला जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि केदारनाथ सिंह अपनी कविता में निरंतर शेष होते जनपदीय जीवन और लोक-संस्कृति को बचा लेना चाहते हैं, यहाँ बैलगाड़ियों को शहर की ओर जाते देख बाध का यह कहना कि, मुझे कुछ करना

चाहिए/ कुछ करना चाहिए। स्वयं कवि का कथन लगता है। ‘बाध’ कविता का बाध कई जगहों पर अपने रचयिता कवि से एकाकार हो गया है।

‘बाध’ पढ़ते समय पाठक के मन में कुछ और प्रश्न अनायास कौंधते हैं मसलन – ‘बाध’ को ही क्यों चुना केदारनाथ सिंह ने? कविता में एक जगह बाध ‘निरंतर वर्तमान से ऊबरकर’ उस वर्तमान से जहाँ वह एक तरह से ‘दिन-रात रहने और गुर्राते के’ लिए अभिशास है, खरगोश को अपने पास बुलाता है और उसके देह पर उभरे मुलायम और सफेद रोओं को छूकर उसे लगता है कि ‘यह एक नई बात है।’ ‘बाध’ के लिए यह अनुभव अद्वितीय है। बाध का निरंतर वर्तमान से ऊब व्यंजना से स्वयं कवि का भी कविता की प्रचलित रुढ़ियों फैशनों से ऊब है और पंचतंत्रीय संसार में पहुँचकर ‘बाध’ की तरह कवि को भी लगता है कि अरे ‘यह एक नयी बात है। साथ ही बाध का यह विश्वास कि –

**पहाड़ का मस्तक फाड़कर
लाया जा सकता है नदी को
समुचा उठाकर**

ठीक अपने जबड़ों की प्यास के करीब
स्वयं कवि का ही विश्वास लगता है और यह ‘नदी’ कोई सामान्य नदी नहीं बल्कि अर्थ की नदी है।

हिन्दी में कवियों को एक खास किस्म के फ्रेम में बांध करके पढ़ने की एक भयानक रूढ़ि है और इस लिहाज से केदारनाथ सिंह के कविता के पाठक को एक हल्का-सा झटका लग सकता है बाध की शुरुआती पंक्तियों को पढ़कर। ‘तीसरा सप्क’ में ‘कवि-वक्तव्य’ की पहली ही पंक्ति है, कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब विधान पर। और किसी अंग्रेज आलोचक का हवाला देते हुए वह लिखते हैं, एक अंग्रेज आलोचक का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिक कवि नये-नये बिम्बों की योजना द्वारा ही अपनी नागरिकता का शुल्क अदा करता है। जबकि यहाँ ‘बाध’ कविता की पहली ही पंक्ति है –

**बिम्ब नहीं
साथ ही कविता चार निषेधात्मक
वाक्यों से शुरू होती है –
बिम्ब नहीं / प्रतीक नहीं / तार नहीं /
हरकारा नहीं**

‘बिम्ब’, ‘प्रतीक’, ‘तार’, ‘हरकारा’ – ये चारों संप्रेषण के माध्यम हैं। कवि इनका नकार करता है और स्वयं उपस्थित होते हुए कहता है कि, मैं ही कहूँगा कारण, क्योंकि मैं ही/ सिर्फ मैं ही जानता हूँ / मेरी पीठ पर/ मेरे समय के पंजों के / कितने निशान हैं।

स्पष्ट है, इससे यह बात उभर कर सामने आती है कि जिनके पीठ पर समय के पंजों के निशान होते हैं वे माध्यमों से काम नहीं चलाते। यहाँ यह सामान्यीकरण तो किया ही जा सकता है कि जिनके ‘पीठ पर समय के पंजों के निशान’ होते हैं उनका काम केवल ‘बिम्ब’, ‘प्रतीक’, ‘तार’, ‘हरकारा’ आदि से नहीं चलता। वहाँ ये अभिव्यक्ति-माध्यम अपर्याप्त लगने लगते हैं और इनमें समय की कूररता और निर्ममता अँट नहीं पाते। इसीलिए कवि स्वयं उपस्थित होता है। इसके साथ कवि इस बात को लेकर भी काफी सचेत है कि उसके कथ्य को किन्हीं और आशयों के लिए प्रयोग न कर लिया जाए इसलिए ये शुरुआती पंक्तियाँ स्पष्टीकरण जैसी लगती हैं।

पाठकीय जिज्ञासा यह भी हो सकती है कि ‘बिम्ब’ ‘प्रतीक’ से जो अभिव्यक्त किया गया, वह क्या है? क्या उस समय कवि के पीठ पर ‘समय के पंजों के निशान’ नहीं थे? यहाँ यह गौरतलब है कि ऐसा कहकर कवि केदारनाथ सिंह अपने ‘बिम्ब-व्यामोह’ से ऊपर उठते हैं और निरंतर जटिल और कूरर होते समय का बयान अपनी कविता में करते हैं।

‘बाध’ तक आते-आते केदारनाथ सिंह का काव्य-विकास अपनी परिणति में बिम्ब लगाव से लगभग मुक्त हो जाता है। उदय प्रकाश के शब्दों में, जमीन पक रही है तब आते-आते वे कुछ और ही हो गए हैं। बिम्ब धर्मिता के प्रति आग्रह, प्रगीतात्मकता, अज्ञेय के असर और नई कविता से लगभग विमुक्त अब उनकी चिंता के केन्द्र में बिम्ब विधान या प्रकृति के स्मृति-चित्र ही नहीं, बल्कि समकालीन मनुष्य के मूल संकट और उसके, जीवनानुभव एक बिल्कुल भिन्न विन्यास और उद्गिन करने वाली अर्थ-संरचनाओं के साथ उपस्थित हैं।

ग्रांट की एजेन्सी ले रखी है?

राजेश चंद

दलाली का रेट फिक्स है? नहीं। पहली बार दिलाने का कमीशन 50 प्रतिशत तक ले लेते हैं। वैसे सामान्य रेट 20 प्रतिशत का है। मतलब चार लाख का ग्रांट पास करवाते हैं और दो लाख जेब में रख लेते हैं? हाँ भई। वैसे ग्रांट के लिये वाया भोपाल आना ठीक है या वाया पटना? एक ही बात है। हालांकि आजकल वाया रांची का मार्केट अच्छा है। रेट भी थोड़ा कम है। आज कल अच्छे ऑफर भी आ रहे हैं मार्केट में। ओह... ऑफर क्या? ग्रांट लेकर नाटक तो कर लो, पर शो का क्या? फेस्टिवल में नाटक लगवा लेना असली खेल है बेटा। अब देखो न पटना से लेकर बेगूसराय, भोपाल, दिल्ली, केरला, हिसार, कोलकाता, उज्जैन जहाँ भी ग्रांट से बड़े बजट के प्राइवेट फेस्टिवल हो रहे हैं, सबकी सेटिंग होती है। ज्यादा कमीशन लगता है तब भी इसीलिये सब भोपाल और पटना की तरफ दौड़ लगाते हैं। फेस्टिवल की सबसे बड़ी लांबी वहाँ से ऑपरेट होती है। दो-तीन शो लग गये न बेटा तो कमीशन का खर्च वापस आ जाता है। धीरे-धीरे स्टैब्लिश भी हो जाओगे।

मतलब... स्टैब्लिश भी कराने का ठेका लेते हैं?

अबे घोंचूँ कुछ जानते भी हो मार्केट के बारे में? आजकल इसी तरह स्टैब्लिश होते हैं। कोई क्लासिक उठ लो, नेट पर सर्च मारो, क्या नहीं है वहाँ? एकदम रेडीमेड सब कुछ मिल जायेगा। डिजाइन, एक्टिंग, कॉस्ट्यूम, म्यूजिक सब कुछ। बस दिमाग लगाओ, कॉपी मारो, नाटक तैयार। दो चार कहानियाँ इधर-उधर से उठाओ, फेंट-फाँट कर कोई उड़ती सी स्टोरी बन जायेगी। कुछ इम्प्रोवाइज कर-कराके नयी स्क्रिप्ट तैयार। अब तुम भी बन गये नाटककार। ज्यादा दूर क्या जाना, आसपास देखो कई ऐसे नाटककार दीख जायेंगे। हमारे दौर के नाटककार भी वही लोग हैं, जो एक्टर भी हैं, डायरेक्टर भी और ऑर्गेनाइजर भी।

ये लोग आज कल थियेटर के भी बनाने लगे हैं। समीक्षक की जरूरत ही किसे है? नहीं हुआ तो राय जी से और बजेली जी से कहलवा दिया जायेगा कि यह दशक का सर्वश्रेष्ठ नाटक और प्रस्तुति है। बस। हो गये स्टैब्लिश। आराम से रेपर्टरी ग्रांट के लिये अर्पण करो, डायरेक्टर को बुला कर उद्घाटन करा लो, कोई अवार्ड दे दो हो गया काम। रेपर्टरी मिल गयी तो लाइन में निकल जायेगी। घूमो-फिरो ऐश करो। मन हो तो थोड़ा-बहुत खर्च करो, मन हो तो पूरा रख लो। शर्म हया छेड़नी पड़ती है, चमड़ी मोटी करनी पड़ती है, गधों का गुणगान खुलेआम करना पड़ता है। आज कल सब तो कर रहे हैं।

अवार्ड भी देना होता है?

नहीं तो क्या? अवार्ड किसको मिलता है आज कल? इन्वेस्टमेंट है भाई। किसी कमिटि में है, पावर सेन्टर में है, कोई लांबी चलाता है, फेस्टिवल दिला सकता है, कोई एसएमए अवार्डी है, आने वाले वक्त में उसके रिकमंडेशन की जरूरत पड़ेगी एसएमए में, तो आज उसको अवार्ड देना पड़ता है। गिव एण्ड टेक का मामला है सारा बाकायदा। अपना इन्वेस्टमेंट है, जिसको मन करे दे दो। कोई नहीं पृच्छता कि भाई अवार्ड की कमिटि कहाँ है? अवार्ड की योग्यता क्या है? तुमने खुद कैसे तय कर लिया कि फलाने व्यक्ति का थियेटर में अतुलनीय योगदान है वगैरह-वगैरह।

इतना सब कुछ करना पड़ता है स्टैब्लिश होने के लिये?

तोड़ आसान है? इतना कौन नहीं। असली खिलाड़ी तब माने जाओगे जब फेस्टिवल ऑर्गेनाइज करने लग जाओगे। अपने पड़ोसी, रिश्तेदार, प्रेमिका और चमचों को कुछ लाभ देने-दिलाने का स्टेटस पा लो। किसी को रेपर्टरी, किसी को कुछ और। जब तुम्हारे आगे-पीछे दस-बीस लोग चक्कर काटेंगे, जय-जय करेंगे, तब समझना कि स्टैब्लिश हो गये। बहुत स्ट्रगल है भाई।

पर रंगकर्मी तो कुछ दूसरे तरह के होते हैं, जैसे हबीब साहब, प्रसन्ना, हाशमी, गुरशरण सिंह, कन्हाइलाल का व्यक्तित्व तो अलग तरह का है। उनके बारे में सोच कर सिहरन होती है, रॉंगटे खड़े होने लगते हैं। किस तरह अपनी महत्वाकांक्षाओं को, अपने जीवन को गला कर, मूल्यों को तपा कर उन्होंने समष्टि के लिये, कला और समाज की उन्नति के लिये सर्वस्व दिया। बदले में पद, पुरस्कार, सुविधाओं की कभी अपेक्षा नहीं की। फिर आज के ये लोग क्या रंगकर्मी कहलाने लायक हुए?

किसके बहकावे में आ गये भाई? यह सब कहने की बातें हैं। जीवन मूल्यों और आदर्शों से नहीं चलता। भूखों मरना हो तो ठीक है।

भाई हम तो रंगकर्म करने आये थे। यहाँ तो कुछ और ही मामला है। लगता है हम गलत जगह आ गये।